REVIEW OF RESEARCH
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF) UGC APPROVED JOURNAL NO. 48514 ISSN: 2249-894X
VOLUME - 8 | ISSUE - 3 | DECEMBER - 2018

पंजाबी एवं उर्दू भाषा के विकास में हिन्दी का योगदान

डॉ. नीरू
असिसटैन्ट प्रोफेसर , दयाल सिंह सांध्य महाविद्यालय.

प्रस्तावना :

उर्दू की पंजाबी के साथ मामूली समानता है। उर्दू बोलने वचाले अधिकांश लोग कुछ कठिनाइयों के साथ लिखित पंजाबी समझ सकते हैं लेकिन लिखित लिपि को समझना मुश्किल होगा। पंजाबी जो शाहमुखी और गुरूमुखी लिपि में आती है, एक इंडो आर्यन भाषा है। यह भाषा मुख्य रूप से भारत के उत्तर पश्चिम भागों और पाकिस्तान के कुछ क्षेत्रों में बोली जाती है। यह पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में बोली जाने वाली दूसरी सबसे बड़ी भाषा है। पंजाबी को लिखने के लिए विभिन्न प्रकार की लिपि का प्रयोग किया जाता है। शाहमुखी और नस्तालिक लिपि का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता हैं। उर्दू शब्द का अर्थ तुर्की में 'सेना' है। उर्दू इंडो आर्यन परिवार की भाषा मानी जाती है जिसका मूल भारत में है। उर्दू के बारे में ऐसा माना जाता है कि यह नई दिल्ली और उसके आस–पास के इलाकों में पैदा हुई थी। यह मुख्य रूप से सैन्य शिविरों में विकसित हुई थी। उर्दू वर्णमाला नस्तालिक लिपि पर आधारित है।

उर्दू भाषा का विकास मध्य युग में उत्तरी भारत के उस क्षेत्र में हुआ जिसमें आज पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली और पूर्वी पंजाब सम्मिलित हैं। इसका आधार उस प्राकृत और अपभ्रंश पर था जिसे शौरसेनी कहते थे और जिसमें खड़ी बोली, ब्रजभाषा, हरियाणवी और पंजाबी आदि ने जन्म लिचा था। मुसलमानों के भारत में आने और पंजाब तथा दिल्ली में बस जाने के कारण इस प्रदेश की बोलचाल की भाषा में फारसी और अरबी शब्द भी सम्मिलित होने लगे और धीरे–धीरे उसने एक पृथक रूप धारण कर लिया। मुसलमानों का राज्य और शासन स्थापित हो जाने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी था कि उनके धर्म, नीति, रहन–सहन, आचार–विचार का रंग उस भाषा में झलकने लगे। इस प्रकार उसके विकास में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ सम्मिलित हो गईं जिनकी आवश्यकता उस समय की दूसरी भारतीय भाषाओं को नहीं थी। पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली में बोलचाल में खड़ी बोली का प्रयोग होता था। उसी के आधार पर बाद में उर्दू का साहित्यिक रूप निर्धारित हुआ इसमें काफी समय लगा, अतः देश के कई भागों में थोड़े–थोड़े अंतर के साथ इस भाषा का विकास अपने–अपने ढ़ंग से हुआ। उर्दू का मूल आधार तो खड़ी बोली ही है किंतु दूसरे क्षेत्रों की बोलियों का प्रभाव उस पर पड़ता रहा। ऐसा होना ही चाहिए था, क्योंकि आरंभ में इसको बोलने वाली या तो बाजार की जनता थी अथवा वे सूफी–फकीर जो देश के विभिन्न भागों में घूम–घूम कर अपने विचारों का प्रचार करते थे।

इस भाषा के लिए कई नामों का प्रयोग हुआ है। अमीर खुसरो ने उसको ''हिंदी'', ''हिंदवी'' अथवा ''ज़बाने देहलवी'' कहा था, दक्षिण में पहुँची तो ''दकिनी'' या ''दक्खिनी'' कहलाई। गुजरात में ''गुजरी'' (गुजराती उर्दू) कही गई, दक्षिण के कुछ लेखकों ने उसे ''ज़बाने–अहले–हिंदुस्तान'' (उत्तरी भारत के लोगों की भाषा) भी कहा। जब कविता और विशेषतया गजल के लिए इस भाषा का प्रयोग होने लगा तो इसे ''रेख्ता'' (मिली–जुली वोली) का गया। वाद में इसी को ''ज़बाने उर्दू'', ''उर्दू–ए–मुअल्ला'' या केवल ''उर्दू'' कहा जाने लगा। यूरोपीय लेखकों ने इसे साधारणतः ''हिंदुस्तानी'' कहा है। कुछ अंग्रेज लेखकों ने इसको ''मूस'' के नाम से भी संबोधित किया है। इन कई नामों से इस भाषा के ऐतिहासिक विकास पर भी प्रकाश पड़ता है।

हिंदी के आधुनिक साहित्य की रचना खड़ी बोली में हुई है। खड़ी बोली हिंदी में अरबी–फारसी के मेल से जो भाषा बनी वह उर्दू कहलाई। मुसलमानों ने उर्दू का प्रयोग छावनी, शाही लश्कर और किले के अर्थ में किया है। इन स्थानों में बोली जाने वाली व्यवहारिक भाषा ' उर्दू' की जवान हुई। पहले–पहले बोलचाल के लिए दिल्ली के सामान्य मुसलमान जो भाषा व्यवहार में लाते थे वह हिंदी ही थी। चौदहवीं सदी में मुहम्मद तुगलक जब अपनी राजधानी दिल्ली से देवगिरि ले गया तब वहाँ जाने वाले पछांह

के मुसलमान अपनी सामान्य बोलचाल की भाषा भी अपने साथ लेते गए। प्रायः पंद्रहवीं शताब्दी में बीजापुर, गोलकुंडा आदि मुसलमानी राज्यों में साहित्य के स्तर पर इस भाषा की प्रतिष्ठा हुई। उस समय उत्तर भारत के मुसलमान राज्य में साहित्यिक भाषा फारसी थी। दक्षिण भारत में तेलुगु आदि द्रविड़ भाषा भाषियों के बीच उत्तर भारत की इस आर्य भाषा को फारसी लिपि में लिखा जाता था। इस दखिनी भाषा को उर्दू के विकास उर्दू कहते हैं। शुरू में दखिनी भाषा बोलचाल की खड़ी बोली के बहुत निकट थी। इसमें हिंदी और संस्कृत के शब्दों का बहुत प्रयोग होता था। छंद भी अधिकतर हिंदी के ही होते थे। पर सोलहवीं सदी से बीजापुर, गोलकुंडा आदि राज्यों के दरबारियों द्वारा दखिनी में अरबी फारसी का प्रचलन धीरे–धीरे बढ़ने लगा। फिर भी अठारहवीं शताब्दी के आरंभ तक इसका रूप प्रधानतया हिंदी या भारतीय ही रहा।

सन् 1700 के आस–पास दखिनी के प्रसिद्ध कवि शक्स वलीउल्ला 'वली' दिल्ली आए। यहां आने पर शुरू में तो वली ने अपनी काव्य भाषा दखिनी ही ही रखी, भारतीय वातावरण के निकट थी। पर बाद में उनकी रचनाओं पर अरबी–फारसी की परंपरा प्रवर्तित हुई। आरंभ की दखिनी में फारसी प्रभाव कम मिलता है। दिल्ली की परवर्ती उर्दू पर फारसी शब्दावली और विदेशी वातावरण का गहरा रंग चढ़ता गया। हिंदी के शव्द ढूँढ कर निकाल फेंके गए और उनकी जगह अरबी–फारसी के शब्द बैठाए गए। मुगल साम्राज्य के पतन काल में जब लखनऊ उर्दू का दूसरा केन्द्र हुआ हुआ तो उसका हिंदीपन और भी सतर्कता से दूर किया। अब वह अपने मूल हिंदी रूप से बहुत भिन्न हो गई।

भाषा की दृष्टि से उर्दू के विकास में पंजाबी का प्रभाव सबसे पहले दिखाई पड़ता है क्योंकि जब 15वीं और 16वीं सदी में इसका प्रयोग दक्षिण के कवि और लेखक साहित्यिक रचनाओं के लिए करने लगे तो उसमें पंजाबीपन पर्याप्त मात्रा में पाया जाता था।

17वीं और 18वीं शताब्दी में ब्रजभाषा का गहरा प्रभाव उर्दू पर पड़ा और बड़े–विद्वान कविता में ग्वालियरी भाषा को अधिक शुद्ध मानने लगे। मुहम्मद हुसैन आजाद के अनुसार उर्दू की उत्पत्ति ब्रज भाषा से हुई है। 'आबे हयात' में वे लिखते हैं कि ''हमारी जवान ब्रजभाषा से निकली है। ''हिंदी और उर्दू के एक मिले जुले रूप को हिंदुस्तानी कहा गया है। भारत में अंग्रेज शासकों की कूटनीति के फलस्वरूप हिंदी और उर्दू एक दूसरे से दूर होती गई। एक की संस्कृतनिस्ठा बढ़ती गई और दूसरी का फारसीपन। लिपिभेद तो था ही, सांस्कृतिक वातावरण की दृष्टि से भी दोनों का पार्धक्य बढ़ता गया। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों ने एक ऐसी मिश्रित भाषा को हिंदुस्तानी नाम दिया जिसमें अरबी, फारसी या संस्कृत के कठिन शब्द न प्रयुक्त हों तथा जो साधारणतया जनता के लिए सहजबोध्य हो। आगे चलकर देश के राजनयिकों ने भी इस तरह की भाषा को मान्यता देने की कोशिश की और कहा कि इसे फारसी और नागरी दोनों लिपियों में लिखा जा सकता है। पर यह कृत्रिम प्रयास अंततोगत्वा विफल हुआ। इस तरह की भाषा का ज्यादा झुकाव उर्दू की ओर ही था।

व्याकरणिक रूप से उर्दू और हिंदी में लगभग शत–प्रतिशत समानता है। केवल कुछ विशेष क्षेत्रों में शब्दावली के स्रोत में अंतर होता है। कुछ विशेष ध्वनियां उर्दू में अरवी और फारसी से ली गई है और इसी प्रकार फारसी और अरवी की कुछ विशेष व्याकरण संरचना भी प्रयोग की जाती है। अतः उर्दू को हिंदी की एक विशेष शैली माना जा सकता है। उर्दू व पंजाबी तीनों ही भाषाएँ आपस में मिली जुली हैं। बहुत से ऐसे शब्द हैं जो इन सभी भाषाओं में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। यथा–अम्ल, अखबार, अगर, नाइंसाफी, गुलजार, गुलदस्ता, नाप, साहिब, अफसाना इत्यादि।

कवियों ने भी इन तीनों भाषाओं में कोई भेद नहीं किया है। हिंदी के मध्यकाल में जितने संत कवि हैं उनके यहां खुले तौर पर उर्दू व पंजाबी की शब्दाक मिलती है। यहां तक कि तुलसीदास भी अपने आराध्य को 'गरीब नवाज' कहते हैं संतो के यहां 'दीनबन्धु' शब्द धड़ल्ले से प्रयुक्त हुआ है। हिंदी साहित्य के मध्यकाल के कवि अरबी–फारसी शैली से इतना प्रभावित थे कि अपने वेदों में अपने नाम का प्रयोग करने लगे थे। हिंदी में किसी भी कवि द्वारा कविता में अपना नाम लिखने की कोई परंपरा नहीं नही है। ये परंपरा अरवी फारसी से हिंदी में आई और इसका पालन पंजाबी में भी वदस्तूर जारी है। यथा–

1. कबीरा खड़ा बाजार में, मांगे सबकी खैर।
   ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।।
2. बुल्ला की जाना मैं कौन।
3. सूरस्याम–छवि पर मन अटक्यो उन सब सोभा लीन्ही।
4. आदी सचु जुगदि सचु।।
   है भी सचु नानक होसी भी सचु।।
5. करो लाख तुम मातम–ए–नौजवानी।
   पर मीर अब नहीं आएगा वो ज़माना।।

ये सारी अलग–अलग भाषाओं की काव्य पंक्तियाँ हैं। परन्तु सबकी शैली एक जैसी है। इन भाषाओं की आपस में एक दूसरे के यहां आवाजाही के कारण भाषा के साथ–साथ इनकी संस्कृतियों का भी विस्तार हुआ है। जब हम किसी भाषा का प्रयोग करते हैं तो केवल उसके शब्द ही हमारे पास नहीं आते वल्कि वह उपने साथ अपनी परंपरा व संस्कृति भी लाती है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में इन भाषाओं का अहम योगदान है। पंजाबी और उर्दू में जितने सूफी संत हैं उनकी रचनाएं कमोवेश एक जैसी ही है। जैसे बावा फरीद, बुल्लेशाह इत्यादि। इनके गीत या कविताएं पंजाबी व उर्दू दोनों में ही समान रूप से स्वीकृत है।

कवीर, सूर, तुलसी, जायसी के साथ गालिब, मीर, इकबाल, फैज और नानक, फरीद, गुरू गोविन्द सिंह आदि कवियों ने भारतीय संस्कृति का रूप निर्धारण करने में बराबर योगदान दिया है। इन सभी कवियों के रचना संसार से भारत एक सामासिक संस्कृति की नींव रखता है। अगर हिंदी में से पंजाबी व उर्दू को हटा दिया जाए तो हिंदी अपाहिज हो जाएगी।